
प्रवचन नं. २५७, श्लोक-१२५, गाथा १८१-१८३ दिनाङ्क १९-०६-१९७९
मंगलवार, ज्येष्ठ कृष्ण १०

(समयसार, १२४ कलश का) भावार्थ। अन्तिम दो लाईनें हैं न? रंगभूमि में आस्रव का स्वाँग आया था उसे... पहिचान कर हटाया, यह बात है। उसमें कुछ विशेष दूसरी बात नहीं है। मिथ्यात्व आदि आस्रव रंगभूमि में आये थे, उन्हें ज्ञान ने देख लिया। ज्ञान ने (देखा कि) मैं तो चैतन्य हूँ, पूर्ण आनन्द हूँ-ऐसे भाव द्वारा उस आस्रव को जीत लिया। आस्रव का नाश किया। यह है, ऐसा। पूरे आस्रव अधिकार का, आस्रव का स्वाँग आया था। ऐसा, नाटक की भाँति इसमें कहा है न! रंगभूमि में आस्रव का स्वाँग आया था, उसे ज्ञान ने उसके यथार्थ स्वरूप में जान लिया... जो शुभ-अशुभभावादि आस्रव

है, वह स्वभाव से भिन्न जाति है। स्वभाव है, वह शुद्ध चैतन्य है—ऐसा जानकर, उस स्वांग को जिसने दूर किया। स्वरूप में स्थिर होकर उस अस्थिरता का नाश किया। इसलिए वह बाहर निकल गया। इसीलिए आस्रव रंगभूमि में आया था, वह निकल गया।

अब इसके उस (अर्थ का) कलश

योग कषाय मिथ्यात्व असंयम आस्रव द्रव्यत आगम गाये,
राग विरोध विमोह विभाव अज्ञानमयी यह भाव जताये;
जे मुनिराज करैं इनि पाल सुरिद्धि समाज लये सिव थाये,
काय नवाय नमूं चित लाय कहूं जय पाय लहूं मन भाये॥

हिन्दी में संक्षिप्त किया। योग कषाय मिथ्यात्व असंयम आस्रव.. यह द्रव्यत्व है। जड़, जड़ पूर्व के (बाँधे हुए हैं।) द्रव्यत आगम गाये,.. पूर्व के (कर्म) सत्ता में पड़े हैं। राग विरोध विमोह विभाव अज्ञानमयी यह भाव.. ये भावास्रव। वे पूर्व के पड़े हैं, वे जड़ आस्रव (कहे)। वे कहीं बंध का कारण नहीं है। राग और विरोध अर्थात् द्वेष, विमोह अर्थात् मिथ्यात्व। ऐसा विभाव अज्ञानमय। अज्ञानमय जो भाव यह भाव जताये;.. यह भावास्रव बतलाये।

जे मुनिराज करैं इनि पाल... जो मुनिराज अपना पालन (अर्थात्) स्वरूप की स्थिरता करे, सुरिद्धि समाज... (अर्थात्) अतीन्द्रिय आनन्द की ऋद्धिरूपी अपना समाज। लये सिव थाये,... वह अनन्त आनन्द और अनन्त शान्ति को पाकर मुक्ति को प्राप्त करे। काय नवाय... पण्डित जयचन्दजी स्वयं कहते हैं। हिन्दी टीकाकार! काय नवाय... मैं काया से उन्हें नमन करता हूँ। चित लाय... चित्त को साथ रखकर अर्थात् चित्त से भी नमन करता हूँ, ऐसा। जय... वे यह जयचन्द टीकाकार। जय पाय... ऐसे जय मिले और आस्रव टलकर जय हो और ऐसे 'जय' स्वयं का नाम डाला। जय पाय लहूं मन भाये। मन में भावना यह है कि राग से रहित होकर मैं शुद्ध होऊँ, ऐसी मेरी भावना है।

इस प्रकार श्री समयसार की (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री समयसार परमागम की) श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित आत्मख्याति नामक टीका में आस्रव का प्ररूपक चौथा अंक समाप्त हुआ।

—५—

संवर अधिकार

श्लोक-१२५

अथ प्रविशति सम्बरः ।

(शार्दूलविक्रीडित)

आसन्सार-विरोधि-सम्बर-जयैकान्तावलिप्तास्रव-
न्यक्कारात्प्रतिलब्ध-नित्य-विजयं सम्पादयत्सम्बरम् ।
व्यावृत्तं पर-रूपतो नियमितं सम्यक्स्वरूपेस्फुर-
ज्योतिश्चिन्मय-मुज्ज्वलं निजरसप्राग्भारमुज्जृम्भते ॥१२५॥

मोहरागरुष दूर करि, समिति गुप्ति व्रत पारि।

संवरमय आतम कियो, नमूं ताहि, मन धारि॥

प्रथम टीकाकार आचार्यदेव कहते हैं कि “अब संवर प्रवेश करता है।” आस्रव के रंगभूमि में से बाहर निकल जाने के बाद अब संवर रंगभूमि में प्रवेश करता है।

यहाँ पहले टीकाकार आचार्यदेव सर्व स्वाँग को जाननेवाले सम्यक्ज्ञान की महिमादर्शन मंगलाचरण करते हैं:-

श्लोकार्थ : [आसंसार-विरोधि-संवर-जय-एकान्त-अवलिप्त-आस्रव-न्यक्कारात्] अनादि संसार से लेकर अपने विरोधी संवर को जीतने से जो एकान्तगर्वित (अत्यन्त अहंकारयुक्त) हुआ है ऐसे आस्रव का तिरस्कार करने से [प्रतिलब्ध नित्य-विजयं-संवरम्] जिसने सदा विजय प्राप्त की है ऐसे संवर को [संपादयत्] उत्पन्न करती हुई, [पररूपतः व्यावृत्तं] पररूप से भिन्न (अर्थात् परद्रव्य और परद्रव्य के निमित्त से

होनेवाले भावों से भिन्न), [सम्यक्-स्वरूपे नियमितं स्फुरत्] अपने सम्यक् स्वरूप में निश्चयलता से प्रकाश करती हुई, [चिन्मयं] चिन्मय, [उज्ज्वलं] उज्ज्वल (-निराबाध, निर्मल, दैदीप्यमान) और [निज-रस-प्राग्भारम्] निजरस के (अपने चैतन्यरस के) भार से युक्त-अतिशयता से युक्त [ज्योतिः] ज्योति [उज्जृम्भते] प्रगट होती है, प्रसारित होती है।

भावार्थ : अनादि काल से जो आस्रव का विरोधी है ऐसे संवर को जीतकर आस्रव मद से गर्वित हुआ है। उस आस्रव का तिरस्कार करके उस पर जिसने सदा के लिये विजय प्राप्त की है ऐसे संवर को उत्पन्न करता हुआ, समस्त पररूप से भिन्न और अपने स्वरूप में निश्चल यह चैतन्य प्रकाश निजरस की अतिशयतापूर्वक निर्मलता से उदय को प्राप्त हुआ है॥१२५॥

श्लोक-१२५ पर प्रवचन

अब पाँचवाँ संवर (अधिकार) ।

मोहरागरुष दूर करि, समिति गुप्ति व्रत पारि।

संवरमय आतम कियो, नमूं ताहि, मन धारि॥

मोह... अर्थात् मिथ्यात्व राग... और रुष (अर्थात्) द्वेष दूर करि, समिति गुप्ति व्रत पारि। जिसे निश्चय समिति, गुप्ति और व्रत का विकल्प हो वह। वह भी लिया। संवरमय आतम कियो,... जिसने आत्मा को राग के विकल्प के आस्रव से रहित किया। नमूं ताहि, मन धारि। उसे मैं नमस्कार करता हूँ, मन से नमस्कार करता हूँ।

प्रथम टीकाकार आचार्यदेव कहते हैं कि 'अब संवर प्रवेश करता है।' अखाड़ा की, रंगभूमि की बात लेनी है न! आस्रव के रंगभूमि में से बाहर निकल जाने के बाद अब संवर रंगभूमि में प्रवेश करता है। संवर आता है। इसकी टीका की है न? कलश-टीका! वहाँ दूसरे की टीका करने से पहले ॐ नमः लिया है। संवर अधिकार है न! यह संवर अधिकार। पहले कलश टीकाकार ने ॐ नमः (लिखा है)। संवर अधिकार अलौकिक है। जो अनन्त काल में नहीं किया, इसलिए सब टीकायें कीं, परन्तु यह टीका करते हुए ॐ नमः लिखा है।

यहाँ पहले टीकाकार आचार्यदेव सर्व स्वाँग को जाननेवाले सम्यक्ज्ञान की महिमादर्शन मंगलाचरण करते हैं:- लो!

आसन्सार-विरोधि-संवर-जयैकान्तावलिप्तास्रव-
न्यक्कारात्प्रतिलब्ध-नित्य-विजयं सम्पादयत्संवरम् ।
व्यावृत्तं पर-रूपतो नियमितं सम्यक्स्वरूपेस्फुर-
ज्योतिश्चिन्मय-मुज्ज्वलं निजरसप्राग्भारमुज्जृम्भते ॥१२५॥

[आसंसार-विरोधि-संवर-जय-एकान्त-अवलिप्त-आस्रव-न्यक्कारात्] अनादि संसार से लेकर अपने विरोधी... आस्रव है, उसका विरोधी संवर है। मिथ्यात्व, अव्रत आदि आस्रव, उसका विरोधी संवर है। उस आस्रव ने अपने विरोधी संवर को जीतने से... संवर नहीं होने दिया। आस्रव के प्रेम में संवर नहीं होने दिया, ऐसा कहते हैं। आहाहा! संवर को जीतने से जो एकान्तगर्वित... हुआ है। कौन? आस्रव। मैंने बड़े मानधाताओं को गिराया है। साधु नाम धरानेवाले, ग्यारह अंग के पाठक, पंच महाव्रत के पालनेवालों को भी मैंने गिराया है। आस्रव है, इसमें उन्हें प्रेम है, वह आस्रव है। आहाहा! मेरे पंजे में से किसी को निकलने नहीं दिया। ऐसा अहंकार आस्रव को हुआ है। आहाहा!

एकान्तगर्वित (अत्यन्त अहंकारयुक्त) हुआ है, ऐसे आस्रव का तिरस्कार करने से... अब संवर (की बात करते हैं)। आहाहा! स्व का आश्रय लेकर और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट करके, उसका (आस्रव का) तिरस्कार किया। [प्रतिलब्ध नित्य-विजयं-संवरम्] जिसने सदा विजय प्राप्त की है... उसने (आस्रव ने) तो मात्र अनादि काल से अमुक (समय) तक विजय (प्राप्त की) थी और इसने (संवर ने) तो सदा विजय प्राप्त की है। ऐसा कहकर क्या कहते हैं? कि जिसने राग और पुण्य-पाप के विकल्प से भिन्न आत्मा का अनुभव किया, शुद्ध चैतन्य और संवर प्रगट किया, उसकी अब सदा विजय रहनेवाली है। आहाहा! वह संवर अब आस्रव होनेवाला नहीं है। संवर से गिरनेवाले नहीं हैं, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

जिसने भगवान आत्मा पूर्ण आनन्द और ज्ञानस्वरूप है, ऐसा जिसने अनुभव में लिया, वह संवर है। उस संवर ने सदा... आहा! विजय प्राप्त की है। आहाहा! ऐसा संवर... आस्रव पर सदा विजय प्राप्त की है, ऐसा संवर। जो संवर एक बार हुआ, वह बाद में

गिरनेवाला नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! आचार्य की भाषा देखो! सदा विजय प्राप्त की है... ऐसा संवर। क्योंकि आस्रव तो अमुक अनादि-सान्त था। यह तो सादि-अनन्त संवर प्रगट हुआ अर्थात् सादि-अनन्त संवर रहनेवाला है। आहाहा! सम्यक्त्व हुआ, वह सम्यक्त्व सादि-अनन्त रहनेवाला है। ऐसी बात है। यह श्लोक ऊँचा है!

[प्रतिलब्ध नित्य-विजय-संवरम्] जिसने सदा विजय प्राप्त की है... ऐसा जो संवर। [संपादयत्] उत्पन्न करती... आहाहा! चिन् ज्योति की बात करनी है न! चिन् ज्योति-ज्ञानरूपी ज्योति, ऐसा जो भगवान आत्मा, यह चिन्मय ज्योति उत्पन्न करती। संवर को उत्पन्न करने से चैतन्यज्योति उत्पन्न हुई। वह जो आस्रव उत्पन्न था, (अब) यह यहाँ चैतन्य उत्पन्न हुआ। चैतन्य! संवर में, चैतन्यस्वरूप त्रिकाल के आश्रय से चिन्मय चैतन्यज्योति प्रगट हुई। आहा! ऐसा है।

[पररूपतः व्यावृत्तं] पुण्य और पाप के विकल्प से संवरदशा व्यावृत्त हुई, (आस्रव से) दशारहित हुई। आहाहा! यह संवर! ऐसे तो संवर बहुत लेकर बैठते हैं। आस्रव का तुम कराओ संवर। वह संवर नहीं। अन्तर के अनन्त आनन्द के स्वभाव का साक्षात्कार करके और उसमें लीनता हुई, इसलिए आस्रव उत्पन्न नहीं हुआ और वह नहीं हुआ, वह अब होनेवाला नहीं है। इस प्रकार संवर ने, संवर सदा रहे (ऐसी) विजय प्राप्त की है। आहा! और इसलिए चैतन्यज्योति पररूप से निवृत्ति हुई। चैतन्यज्योति-भाषा ऐसी है न? उत्पन्न करती हुई,... अर्थात् क्या (उत्पन्न करती हुई)? (कि) चैतन्यज्योति उत्पन्न करती हुई। आहा!

पररूप से भिन्न (अर्थात् परद्रव्य और परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले भावों से भिन्न),... परद्रव्य—शरीर, कर्म इत्यादि और परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले विकारी भाव, इनसे चैतन्यज्योति भिन्न हुई। आहाहा! इसमें पर्याय की बात है, हों! त्रिकाली चैतन्य है, वह तो है। यह तो चैतन्यज्योति पर्याय में प्रगट हुई। संवर पर्याय की बात है न! संवर, वह पर्याय है, तो वह चैतन्यज्योति त्रिकाल जो है, उसका आश्रय लेकर, पर से रहित होकर, स्व से सहित होकर चैतन्यज्योति पर्याय में प्रगट हुई। आहाहा!

[सम्यक्-स्वरूपे नियमितं स्फुरत्] अपने सम्यक् स्वरूप में... जो चैतन्यज्योति ज्ञानज्योति प्रगट हुई, वह अपने निश्चल स्थिर स्वरूप में प्रकाश करती हुई,... अपने सम्यक्

स्वरूप में निश्चयलता से प्रकाश करती हुई, ... आहाहा! चिन्मय, उज्वल (-निराबाध, निर्मल, दैदीप्यमान)... ऐसी। [निज-रस-प्राग्भारम्] (अर्थात्) अपनी शक्ति के जोर से। [प्राग्भारम्] चैतन्यरस (निजरस) के भार से युक्त... आहाहा! आस्रव को तो कहीं तोड़ डाला, कहते हैं। अपने चैतन्यस्वरूप के भारवाली दशा प्रगट हुई है। चैतन्य... चैतन्य... चैतन्य... चैतन्य... ऐसी जो शुद्ध परिणति और [निज-रस-प्राग्भारम्] निजरस के (अपने चैतन्यरस के)... आहाहा! आस्रव में तो दुःखरस था। यह निजरस, आनन्द के रस से फैलती है। दो बोल लिये हैं। चैतन्य चिन् ज्योति प्रगट हुई परन्तु निजरस-आनन्दसहित प्रगट हुई। वहाँ ज्ञान और आनन्द अधिक लेते हैं।

अपने सम्यक् स्वरूप में... (निर्मल, दैदीप्यमान) और निजरस के (अपने चैतन्यरस के) भार से युक्त... चैतन्यरस की अतिशय-विशेषता हुई। आहाहा! आस्रव का अभाव करके और स्वरूप का आश्रय किया, तब ऐसी चैतन्यज्योति निजरस-आत्मा के रसवाली, आनन्द के रसवाली प्रगट हुई। ऐसा है। आहाहा! ज्योति प्रगट होती है, ... लो! यहाँ कहा है न? उत्पन्न। उत्पन्न करती हुई, था न यहाँ? वह उत्पन्न करती हुई (अर्थात्) यह चैतन्यज्योति। प्रगट होती है, प्रसारित होती है। आहाहा! यह तो ज्ञान की मांगलिकता की।

अपने चैतन्यस्वरूप से भरा हुआ, उसका आश्रय लेकर चैतन्यज्योति प्रगट हुई, वह नित्य प्रकाशमान रहती हुई और अपने निजरस से प्रगट हुई। उसका पर रस टल गया। आनन्द के रस से प्रगट हुई। संवर हो, उसे आनन्द आता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! निजरस के... आहाहा! अतिशय से ज्योति-चैतन्यज्योति प्रगट होती है, विस्तार पाती है। ज्ञान स्वयं पर्याय में विस्तार.. विस्तार.. विस्तार पाता है, प्रसारित होता है। जैसे कमल खिले; वैसे भगवान आत्मा, आस्रव से रुककर स्वरूप-सन्मुख ढलने पर वह आत्मा पर्याय में खिल निकलता है। ज्ञान, आनन्द, श्रद्धा, आदि शान्ति आदि से खिल निकलता है। उसे यहाँ संवर कहा जाता है। लोगों में ऐसा थोड़ा हाथ जोड़कर खड़ा रहे तो (कहता है) संवर हो गया! यह जामनगर में अष्टमी और पाठी के उपवास करे और बहुत संवर करे। जैसे प्रौषध करे न, उसी प्रकार से संवर करे।

भावार्थ : अनादि काल से जो आस्रव का विरोधी है... अर्थात् कि संवर, ऐसे संवर को जीतकर आस्रव मद से गर्वित हुआ है। आहाहा! नौवें प्रैवेयक गये, ऐसे दिगम्बर

साधु मिथ्यादृष्टि को भी मैंने वश में किया है। हजारों रानी छोड़कर, घर-दुकान-मकान छोड़कर, धन्धा छोड़कर त्यागी हुआ, परन्तु फिर भी आस्रव कहता है कि उसमें मेरी जीत हुई है (क्योंकि) राग का भाव है, उसे ही उसने धर्म माना। आहाहा! महाव्रत के परिणाम आदि हैं, उन्हें अपना धर्म मान (लिया)।

यहाँ संवर लेते हैं। उस पर जिसने सदा के लिये विजय प्राप्त की है... लो! उस आस्रव का तिरस्कार करके... तिरस्कार करके अर्थात् फिर से अब तू होगा नहीं। आहाहा! उस आस्रव का तिरस्कार करके उस पर जिसने सदा के लिये विजय प्राप्त की है... आहाहा! क्या आचार्य की शैली! ओहोहो! कहते हैं न? सदा के लिये विजय प्राप्त की है... इसमें से मैं अब गिर जाऊँगा, संवर से गिर जाऊँगा, अब यह वस्तुस्वरूप में ऐसा नहीं है। आहाहा! एक बात है न, 'नयपरिहिणा' में? आस्रव (अधिकार) में। बाकी आदरणीय यह है। आहाहा! संवर उत्पन्न हुआ, वह हमेशा के लिये विजय प्राप्त की। आहाहा!

आनन्दसागर आत्मा! पुण्य और पाप के शुभ-अशुभ सब राग मैल, आस्रव, अशुचि और जड़, दुःखरूप है। आहाहा! उनसे भिन्न पड़कर, उन्हें तिरस्कार करके और अपने चैतन्यस्वरूप में लीन हुआ, उसके निजरस से, आनन्द के रस से चैतन्यज्योति विस्तरित होती है। आहाहा! (लोग) ऐसा कहते हैं कि यह तो कष्ट है। मुनिपना अथवा यह धर्म कष्ट (रूप) है। ऐसा नहीं है। आनन्दरसवाला है। धर्म है, वह आनन्द के रसवाला है और वह तो कठिन पड़े, परीषह सहन करने में तो। आहाहा! निज रस के चैतन्य प्रकाश अपने स्वरूप से (अभिन्न)। और अपने स्वरूप में निश्चल यह चैतन्य प्रकाश निजरस की अतिशयतापूर्वक निर्मलता से उदय को प्राप्त हुआ है। आहाहा! टीकाकारी टीका के समय अभिलाषा है, अभिलाषा अन्दर से। आहाहा! हम अब अपनी ओर गये वह अब बाहर निकलनेवाले नहीं हैं। आहाहा! हम हमारे घर में गये, (इसलिए) सदा हमारी विजय हुई। आस्रव पर सदा के लिये विजय प्राप्त की। आहाहा! एक आस्रव (अधिकार में) और नयपरिहीणा बतलाया था, किसी को ऐसा हो। शुद्धनय से भ्रष्ट हो जाये।

यहाँ कहते हैं कि यह तो जैसा अन्दर भगवान प्रगट हुआ है, चैतन्यज्योति, जागती ज्योति, ऐसी की ऐसी रहनेवाली है। आहाहा! ऐसा कहकर अप्रतिहत संवरदशा बतलायी है। आहाहा!

गाथा-१८१-१८३

तत्रादावेव सकलकर्मसम्वरणस्य परमोपायं भेदविज्ञानमभिनन्दति -
उवओगे उवओगो कोहादिसु णत्थि को वि उवओगो ।
कोहो कोहे चेव हि उवओगे णत्थि खलु कोहो ॥१८१॥
अट्टवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो ।
उवओगम्हि य कम्मं णोकम्मं चावि णो अत्थि ॥१८२॥
एदं दु अविवरीदं णाणं जइया दु होदि जीवस्स ।
तइया ण किंचि कुव्वदि भावं उवओग-सुद्धप्पा ॥१८३॥

उपयोगे उपयोगः क्रोधादिषु नास्ति कोऽप्युपयोगः ।
क्रोधः क्रोधे चैव हि उपयोगे नास्ति खलु क्रोधः ॥१८१॥
अष्टविकल्पे कर्मणि नोकर्मणि चापि नास्त्युपयोगः ।
उपयोगे च कर्म नोकर्म चापि नो अस्ति ॥१८२॥
एतत्त्वविपरीतं ज्ञानं यदा तु भवति जीवस्य ।
तदा न किञ्चित्करोति भाव-मुपयोग-शुद्धात्मा ॥१८३॥

न खल्वेकस्य द्वितीयमस्ति द्वयोर्भिन्नप्रदेशत्वेनैकसत्तानुपपत्तेः, तदसत्त्वे च तेन
सहाधाराधेयसम्बन्धोऽपि नास्त्येव । ततः स्वरूपप्रतिष्ठत्वलक्षण एवाधाराधेय-सम्बन्धोऽवतिष्ठते ।

तेन ज्ञानं जानत्तायां स्वरूपे प्रतिष्ठितं, जानत्ताया ज्ञानादपृथग्भूतत्वात् ज्ञाने एव स्यात् ।
क्रोधादीनि कुध्यत्तादौ स्वरूपे प्रतिष्ठितानि, कुध्यत्तादेः क्रोधादिभ्योऽपृथग्भूत-त्वात्क्रोधादिष्वेव
स्युः ।

न पुनः क्रोधादिषु कर्मणि नोकर्मणि वा ज्ञानमस्ति, न च ज्ञाने क्रोधादयः कर्म नोकर्म वा सन्ति, परस्परमत्यन्तं स्वरूपवैपरीत्येन परमार्थाधाराधेयसम्बन्धशून्यत्वात् ।

न च यथा ज्ञानस्य जानत्ता स्वरूपं तथा क्रुध्यत्तादिरपि क्रोधादीनां च यथा क्रुध्यत्तादिस्वरूपं तथा जानत्तापि कथञ्चनापि व्यवस्थापयितुं शक्येत, जानत्तायाः क्रुध्यत्तादेश्च स्वभावभेदेनोद्धा-समानत्वात् स्वभावभेदाच्च वस्तुभेद एवेति नास्ति ज्ञानाज्ञानयोराधाराधेयत्वम् ।

किञ्च यदा किलैकमेवाकाशं स्वबुद्धिमधिरोप्याधाराधेयभावो विभाव्यते तदा शेषद्रव्यान्तराधि-रोपनिरोधादेव बुद्धेर्न भिन्नाधिकरणापेक्षा प्रभवति । तदप्रभवे चैकमाकाशमेवैक-स्मिन्नाकाश एव प्रतिष्ठितं विभावयतो न पराधाराधेयत्वं प्रतिभाति ।

एवं यदैकमेव ज्ञानं स्वबुद्धिमधिरोप्याधाराधेयभावो विभाव्यते तदा शेषद्रव्यान्तराधिरोप-निरोधादेव बुद्धेर्न भिन्नाधिकरणापेक्षा प्रभवति । तदप्रभवे चैकं ज्ञानमेवैकस्मिन् ज्ञान एव प्रतिष्ठितं विभावयतो न पराधाराधेयत्वं प्रतिभाति ।

संवर अधिकार के प्रारम्भ में ही, श्री कुन्दकुन्दाचार्य सकल कर्म का संवर करने का उत्कृष्ट उपाय जो भेदविज्ञान है, उसकी प्रशंसा करते हैं:-

उपयोग में उपयोग, को उपयोग नहीं क्रोधादि में।

है क्रोध क्रोधविषै हि निश्चय, क्रोध नहीं उपयोग में॥१८१॥

उपयोग है नहीं अष्टविध, कर्मों अवरु नोकर्म में।

ये कर्म अरु नोकर्म भी कुछ हैं नहीं उपयोग में॥१८२॥

ऐसा अविपरीत ज्ञान जब ही प्रगटता है जीव के।

तब अन्य नहीं कुछ भाव वह उपयोग शुद्धात्मा करे॥१८३॥

गाथार्थ : [उपयोगः] उपयोग [उपयोगे] उपयोग में है, [क्रोधादिषु] क्रोधादि में [कोऽपि उपयोगः] कोई भी उपयोग [नास्ति] नहीं है; [च] और [क्रोधः] क्रोध [क्रोध एव हि] क्रोध में ही है, [उपयोगे] उपयोग में [खलु] निश्चय से [क्रोधः] क्रोध [नास्ति] नहीं है। [अष्टविकल्पे कर्मणि] आठ प्रकार के कर्मों में [च अपि] और [नोकर्मणि] नोकर्म में [उपयोगः] उपयोग [नास्ति] नहीं है [च] और [उपयोगे] उपयोग में [कर्म] कर्म [च अपि] तथा [नोकर्म] नोकर्म [नो अस्ति] नहीं है- [एतत् तु] ऐसा [अविपरीतं] अविपरीत [ज्ञानं] ज्ञान [यदा तु] जब [जीवस्य] जीव के [भवति] होता है, [तदा] तब

[उपयोग-शुद्धात्मा] वह उपयोगस्वरूप शुद्धात्मा [किञ्चित् भावम्] उपयोग के अतिरिक्त अन्य किसी भी भाव को [न करोति] नहीं करता।

टीका : वास्तव में एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है (अर्थात् एक वस्तु दूसरी वस्तु के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखती) क्योंकि दोनों के प्रदेश भिन्न हैं, इसलिए उनमें एक सत्ता की अनुपपत्ति है (अर्थात् दोनों की सत्ताएँ भिन्न भिन्न हैं); और इस प्रकार जबकि एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है, तब उनमें परस्पर आधाराधेयसम्बन्ध भी है ही नहीं। इसलिए (प्रत्येक वस्तु का) अपने स्वरूप में प्रतिष्ठारूप (दृढतापूर्वक रहनेरूप) ही आधाराधेयसम्बन्ध है। इसलिए ज्ञान जो कि जाननक्रियारूप अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित है वह, जाननक्रिया का ज्ञान से अभिन्नत्व होने से, ज्ञान में ही है; क्रोधादिक जो कि क्रोधादिक्रियारूप अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित है वह, क्रोधादिक्रिया का क्रोधादि से से अभिन्नत्व होने के कारण, क्रोधादिक में ही है। (ज्ञान का स्वरूप जाननक्रिया है, इसलिए ज्ञान आधेय है और जाननक्रिया आधार है। जाननक्रिया आधार होने से यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान ही आधार है, क्योंकि जाननक्रिया और ज्ञान भिन्न नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि ज्ञान, ज्ञान में ही है। इसी प्रकार क्रोध, क्रोध में ही है।) और क्रोधादिक में, कर्म में या नोकर्म में ज्ञान नहीं है तथा ज्ञान में क्रोधादिक, कर्म या नोकर्म नहीं हैं क्योंकि उनके परस्पर अत्यन्त स्वरूप-विपरीतता होने से (अर्थात् ज्ञान का स्वरूप और क्रोधादिक तथा कर्म-नोकर्म का स्वरूप अत्यन्त विरुद्ध होने से) उनके परमार्थभूत आधाराधेयसम्बन्ध नहीं है। और जैसे ज्ञान का स्वरूप जाननक्रिया है, उसी प्रकार (ज्ञान का स्वरूप) क्रोधादिक्रिया भी हो, अथवा जैसे क्रोधादि का स्वरूप क्रोधादि क्रिया है, उसी प्रकार (क्रोधादिक का स्वरूप) जाननक्रिया भी हो, ऐसा किसी भी प्रकार से स्थापित नहीं किया जा सकता; क्योंकि जाननक्रिया और क्रोधादिक्रिया भिन्न-भिन्न स्वभाव से प्रकाशित होती हैं और इस भाँति स्वभावों के भिन्न होने से वस्तुएँ भिन्न ही हैं। इस प्रकार ज्ञान तथा अज्ञान में (क्रोधादिक में) आधाराधेयत्व नहीं है।

इसी को विशेष समझाते हैं-जब एक ही आकाश को अपनी बुद्धि में स्थापित करके (आकाश के) आधाराधेयभाव का विचार किया जाता है, तब आकाश को शेष अन्य द्रव्यों में आरोपित करने का निरोध ही होने से (अर्थात् अन्य द्रव्यों में स्थापित करना अशक्य ही होने से) बुद्धि में भिन्न आधार की अपेक्षा प्रभवित (*उद्भूत) नहीं

* प्रभवित नहीं होती=लागू नहीं होती; लग सकती नहीं; शमन हो जाती है; उद्भूत नहीं होती।

होती; और उसके प्रभावित नहीं होने से, 'एक आकाश ही एक आकाश में ही प्रतिष्ठित है' यह भलीभाँति समझ लिया जाता है और इसलिए ऐसा समझ लेनेवाले के पर-आधाराधेयत्व भासित नहीं होता। इस प्रकार जब एक ही ज्ञान को अपनी बुद्धि में स्थापित करके (ज्ञान का) आधाराधेयभाव का विचार किया जाये, तब ज्ञान को शेष अन्य द्रव्यों में आरोपित करने का निरोध ही होने से बुद्धि में भिन्न आधार की अपेक्षा प्रभावित नहीं होती; और उसके प्रभावित नहीं होने से, 'एक ज्ञान ही एक ज्ञान में ही प्रतिष्ठित है' यह भलीभाँति समझ लिया जाता है और ऐसा समझ लेनेवाले को पर-आधाराधेयत्व भासित नहीं होता, इसलिए ज्ञान ही ज्ञान में ही है, और क्रोधादिक ही क्रोधादिक में ही है।

इस प्रकार (ज्ञान का और क्रोधादिक तथा कर्म-नोकर्म का) भेदविज्ञान भलीभाँति सिद्ध हुआ।

भावार्थ : उपयोग तो चैतन्य का परिणाम होने से ज्ञानस्वरूप है और क्रोधादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म तथा शरीरादि नोकर्म-सभी पुद्गलद्रव्य के परिणाम होने से जड़ हैं, उनमें और ज्ञान में प्रदेशभेद होने से अत्यन्त भेद है। इसलिए उपयोग में क्रोधादिक, कर्म तथा नोकर्म नहीं हैं और क्रोधादिक में, कर्म में तथा नोकर्म में उपयोग नहीं है। इस प्रकार उनमें पारमार्थिक आधाराधेय सम्बन्ध नहीं है; प्रत्येक वस्तु का अपना-अपना आधाराधेयत्व अपने अपने में ही है। इसलिए उपयोग, उपयोग में ही है और क्रोध, क्रोध में ही है। इस प्रकार भेदविज्ञान भलीभाँति सिद्ध हो गया। (भावकर्म इत्यादि का और उपयोग का भेद जानना, सो भेदविज्ञान है।)

गाथा - १८१-१८३ पर प्रवचन

संवर अधिकार के प्रारम्भ में ही, श्री कुन्दकुन्दाचार्य सकल कर्म का संवर करने का उत्कृष्ट उपाय जो भेदविज्ञान है, उसकी प्रशंसा करते हैं:- भेदविज्ञान उत्कृष्ट उपाय है। चाहे जैसा विकल्प हो, उससे भिन्न पड़ना और स्वरूप में अभेद होना, यह उपाय है। यह बात करते हैं, देखो!

उवओगे उवओगो कोहादिसु णत्थि को वि उवओगो ।

कोहो कोहे चेव हि उवओगे णत्थि खलु कोहो ॥१८१॥

अट्टवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो ।
 उवओगम्हि य कम्मं णोकम्मं चावि णो अत्थि ॥१८२॥
 एदं दु अविवरीदं णाणं जइया दु होदि जीवस्स ।
 तइया ण किंचि कुव्वदि भावं उवओग-सुद्धप्पा ॥१८३॥

हरिगीत—

उपयोग में उपयोग, को उपयोग नहीं क्रोधादि में।
 है क्रोध क्रोधविषै हि निश्चय, क्रोध नहीं उपयोग में॥१८१॥
 उपयोग है नहीं अष्टविध, कर्मों अवरु नोकर्म में।
 ये कर्म अरु नोकर्म भी कुछ हैं नहीं उपयोग में॥१८२॥
 ऐसा अविपरीत ज्ञान जब ही प्रगटता है जीव के।
 तब अन्य नहीं कुछ भाव वह उपयोग शुद्धात्मा करे॥१८३॥

टीका : वास्तव में एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है (अर्थात् एक वस्तु दूसरी वस्तु के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखती)... आहाहा! वास्तव में भगवान एक आत्मस्वरूप, उसकी दूसरी वस्तु नहीं है, दूसरी उसकी नहीं है। एक की दूसरी नहीं है। आहाहा! इसके पुण्य-पाप ही इसके नहीं हैं। आहाहा! एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है। क्योंकि दोनों के प्रदेश भिन्न हैं... आहाहा!

मुमुक्षु : विकार के प्रदेश भिन्न हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसमें कहा क्या ? उपयोग में उपयोग है, उपयोग में उपयोग है। शुद्ध.. शुद्ध... श्रद्धा, ज्ञान और शान्ति (की) परिणति, इस उपयोग में उपयोग / आत्मा है। क्या कहा ? उपयोग में उपयोग है। पहला उपयोग है, वह शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र की निर्मल परिणति। इस उपयोग में उपयोग है (अर्थात् कि) इसमें आत्मा है। क्योंकि इसके द्वारा आत्मा ज्ञात होता है। है न ?

उपयोग में उपयोग है। आहाहा! पहला शब्द ही कठिन है। आत्मा किसमें है ? कहते हैं कि आत्मा, शुभ-अशुभभावरहित शुद्धभाव दर्शन, ज्ञान और चारित्र, ऐसे भाव में आत्मा

है। आत्मा में यह भाव है, ऐसा नहीं लेकर इस भाव में आत्मा है (-ऐसा कहा है)। क्यों? इसे आधार बनाया। आधेय बनाया आत्मा को। यह क्या कहा? शुद्ध सम्यग्दर्शन, ज्ञान पवित्र परिणाम को आधार बनाया। इसके आधार से ही आत्मा आधेय है। यह सूक्ष्म बात है।

उपयोग में उपयोग है। पहले उपयोग में अर्थात् शुद्ध परिणति। वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान और शान्ति, यह शुद्धपरिणति, वह उपयोग। इस उपयोग में उपयोग है। इस उपयोग की परिणति में आत्मा है। वैसे देखें तो द्रव्य के आधार से पर्याय है। यहाँ तो कहते हैं कि पर्याय के आधार से द्रव्य है। क्योंकि पर्याय से ज्ञात हुआ न इसलिए। समझ में आया? दूसरी शैली की अपेक्षा यह शैली अलग ली है।

उपयोग में आत्मा है। उपयोग अर्थात् शुद्ध उपयोग। राग-द्वेषरहित ऐसा जो शुद्ध उपयोग, उस उपयोग में उपयोग अर्थात् आत्मा द्रव्य है। क्योंकि इस शुद्ध उपयोग द्वारा ज्ञात होता है। जिससे ज्ञात हुआ, उसके आधार से आत्मा है, ऐसा कहा। थोड़ी सूक्ष्म बात है। यह गाथा थोड़ी सूक्ष्म है। आहा! क्योंकि परिणति जो शुद्ध है, उस शुद्ध में शुद्धद्रव्य है, ऐसा ज्ञात होता है। अशुद्ध से ज्ञात नहीं होता तथा शुद्ध में द्रव्य है, ऐसा जाना किसने? कि शुद्धपरिणति ने। इसलिए शुद्धपरिणति में शुद्धद्रव्य है। आहाहा! उपयोग में उपयोग है। आहाहा! अभी आगे लेंगे।

क्योंकि दोनों के प्रदेश भिन्न हैं.. क्या कहते हैं? यह आया इसमें। उपयोग शुद्ध है, उसमें आत्मा है। अब, यहाँ तो यह लेना है कि जो पुण्य और पाप के भाव हैं, उनके प्रदेश भिन्न हैं। असंख्य प्रदेश में वह पर्याय उत्पन्न हो, उसका भेद है। विकारी भाव उत्पन्न होता है, वह आत्मा के असंख्य प्रदेश से भिन्न प्रदेश है। लो, ऐसा सूक्ष्म है। हैं तो वे असंख्य प्रदेश, परन्तु उनका जो अन्तिम भाग है, उनके उन प्रदेश में हैं। इसलिए यहाँ कहा कि **दोनों के प्रदेश भिन्न हैं..** भगवान आत्मा की शुद्धपरिणति में ज्ञात हुआ, वे प्रदेश और आस्रव के प्रदेश दोनों अत्यन्त भिन्न हैं। हैं तो इसके असंख्य प्रदेश। सूक्ष्म बात है, भाई! यहाँ तो विकार (लिया है)। नहीं तो निर्विकारी में भी प्रदेश भिन्न हैं।

निर्विकारी परिणति और शुद्धद्रव्य; वह पर्याय है, इसलिए उतना अंश, प्रदेश भिन्न है। परन्तु वह यहाँ अभी नहीं कहना है। यह चिद्विलास में आता है। चिद्विलास में!

चिद्विलास। निर्मल परिणति के प्रदेश भिन्न हैं और द्रव्य के प्रदेश भिन्न हैं। निर्मल परिणति पर्याय है और द्रव्य है, वह ध्रुव है। आहाहा! समझ में आया ?

क्योंकि दोनों के प्रदेश भिन्न हैं.. आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति प्रभु! उसका जो भान हुआ, उस भान में आत्मा ज्ञात हुआ; इसलिए भान में आत्मा है। आत्मा में भान है, ऐसा नहीं। राग से, शुभ से तो ज्ञात नहीं होता। राग से भिन्न है। दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम, वे आस्रव हैं, उनसे आत्मा ज्ञात नहीं होता और उनसे आत्मा को लाभ नहीं होता। यह अन्दर ज्ञात होता है (तो) आस्रवरहित शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान और रमणता, शान्ति और आनन्द की जो परिणति होती है, उसमें आत्मा ज्ञात हुआ। उसमें आत्मा है। जिसमें ज्ञात हुआ, उसमें वह है। यह सूक्ष्म है।

क्योंकि एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है। एक आत्मा, दूसरे आत्मा में नहीं; दूसरे आत्मा के कारण नहीं। आहाहा! एक परमाणु, दूसरे परमाणु के कारण नहीं। आहाहा! ऐसे यह आत्मा दूसरे द्रव्य के कारण नहीं, कर्म के कारण नहीं। आहाहा! **एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है..** एक वस्तु की दूसरी वस्तु कोई सम्बन्धी नहीं है। इस आत्मा को और कर्म को भी कोई सम्बन्ध नहीं है। कर्म परद्रव्य है, यह चैतन्य स्वद्रव्य है।

दोनों के प्रदेश भिन्न हैं.. देखो, वह वस्तु कही। किसे? उस आस्रव को भी वस्तु कहा। दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम आस्रव-राग है। उन्हें यहाँ वस्तु कहा है। **एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है..** क्योंकि दोनों के प्रदेश भिन्न हैं। आहाहा! पहले ये सिद्ध किया कि चैतन्यप्रभु, वह आस्रव वस्तु से भिन्न है। आस्रव वस्तु, वह जीव की नहीं और जीव, आस्रव का नहीं। आहाहा! **एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है..** आस्रव, आत्मा की वस्तु नहीं है। आत्मा के परमाणु आदि नहीं। आत्मा के यह पुत्र, स्त्री, पैसा, धन्धा, इसका नहीं है।

मुमुक्षु : निश्चय से नहीं, व्यवहार से है।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार अर्थात् खोटा, बोलने के लिये होता है। आहाहा!

यहाँ तो आस्रव में यह वस्तु नहीं। वस्तु है, वह दूसरी वस्तु की नहीं अर्थात् आस्रव की नहीं। मिथ्यात्व और राग-द्वेष के परिणाम हों, उनकी यह वस्तु नहीं। आहाहा! तो बाहर की बात तो कहाँ करना? कहो, चिमनभाई! क्या करना इसमें? कारखाने में जाना ?

आहाहा! यहाँ दो वस्तु ली है। एक ओर आस्रव तथा एक ओर आत्मा। दूसरी चीज़ तो है ही नहीं, परन्तु एक वस्तु दूसरी वस्तु में नहीं अर्थात् आत्मा, आस्रव में नहीं और आस्रव आत्मा में नहीं। आहाहा!

यह गम्भीर श्लोक है। क्योंकि (एक वस्तु को दूसरी वस्तु के साथ) सम्बन्ध ही नहीं है। आहाहा! भगवान आत्मा और आस्रव को कोई सम्बन्ध ही नहीं है। आहाहा! भिन्न तत्त्व है या नहीं? आत्मा और आस्रव तो भिन्न तत्त्व है न? नव तत्त्व में भिन्न है या नहीं? तो यह नव तत्त्व में आया। आत्मा ज्ञायकतत्त्व है, आस्रव मलिन तत्त्व है; भिन्न तत्त्व है। आहाहा! ऐसी बात सुने नहीं, सुनने को मिले नहीं, फिर गड़बड़ करे। एक समय का संवर इसके जन्म-मरण का अन्त लाता है। आहाहा!

दो बातें हुई कि एक वस्तु को दूसरी वस्तु (के साथ) सम्बन्ध नहीं है। आत्मा को और आस्रव को सम्बन्ध नहीं है, आत्मा को और कर्म को सम्बन्ध नहीं है, आत्मा को और शरीर को सम्बन्ध नहीं है, आत्मा को, बाहर का धन्धा, स्त्री-पुत्र के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, कहते हैं।

मुमुक्षु : कोई रोटियाँ नहीं घड़ देगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन (घड़े)? उसका आत्मा है, वह दूसरी चीज़ का नहीं है। उसका आत्मा है-स्त्री का आत्मा है, वह पति का नहीं। पति का आत्मा है, वह पत्नी का नहीं है। आहाहा! एक वस्तु को दूसरी वस्तु के (साथ) सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! ऐसा है।

यहाँ तो आगे ले गये। एक वस्तु—आस्रव, वह दूसरी वस्तु है, ऐसा कहते हैं। ऐसे तो नव तत्त्व में तो संवरतत्त्व ही भिन्न लिया है। अभी उसे शुद्ध संवर है, उसमें वह ज्ञात होता है, इसलिए उसके आधार से ज्ञात हुआ, इसलिए उसका आधार-संवर का आधार आत्मा को है। संवर का आधार आत्मा को है! क्योंकि संवर द्वारा ज्ञात हुआ। समझ में आया? आहाहा!

बहुत संक्षिप्त थोड़े में शुरुआत की है, गजब की है! वास्तव में एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है.. निश्चय से अर्थात् वास्तव में, ऐसा कहा है। परन्तु व्यवहार से है या नहीं? -कोई ऐसा कहे। व्यवहार से कहने में आता है, वह तो कथनमात्र है कि भाई! यह मेरा शरीर है या ये मेरे कर्म हैं, या जीव को तीन शरीर हैं और जीव को औदारिक,

तैजस, कार्माणशरीर है, यह कथनमात्र कहने में आता है। बाकी एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! यह तो और प्रदेश भिन्नवाली चीज़ें तो नहीं, परन्तु यह आस्रव है, वह तो अपने प्रदेश में है, तथापि वे प्रदेश भिन्न हैं और आत्मा के प्रदेश भिन्न हैं। निर्मल शुद्ध ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं और जितने अंश में से आस्रव उत्पन्न हो, वे प्रदेश भिन्न हैं। आहाहा! दो वस्तु भिन्न हैं तो दो वस्तुओं के प्रदेश भी भिन्न हैं। अरे! क्या कहा, समझ में आया ?

आत्मा भगवान चिदानन्दस्वरूप में पुण्य और पाप के भाव दूसरी वस्तु है तो इसे और उन्हें कोई सम्बन्ध नहीं है। कोई सम्बन्ध नहीं, इतना नहीं, परन्तु अब (कहते हैं) उनके प्रदेश भिन्न हैं। आहाहा! जिस क्षेत्र में, जितने में ध्रुवपना है, उतने में वह आस्रव नहीं है। उससे जरा भिन्न प्रदेश अन्तिम अंश में आस्रव है। इसलिए इसके प्रदेश असंख्य में का प्रदेश भिन्न है। हैं तो अपने असंख्य (प्रदेश) जो हैं वे। आहाहा!

मुमुक्षु : एक अपरिणमते प्रदेश और एक परिणमते प्रदेश हैं ? ध्रुव अपलटते प्रदेश में विराजमान और आस्रव पलटते प्रदेश में हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्तिम अंश में है। अन्तिम अंश, असंख्य प्रदेश का अन्तिम अंश। वह प्रदेश इतने भिन्न हैं। इस ओर पूरा ध्रुव आत्मा भिन्न है। आहाहा!

मुमुक्षु : अन्तिम का मतलब की परिणमते प्रदेश, पलटते प्रदेश लेना न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : पलटते, नहीं पलटते की अपेक्षा नहीं है। यहाँ तो क्षेत्र की अपेक्षा है। क्षेत्र ही भिन्न है। यह भाव भिन्न है, इसलिए उनका क्षेत्र भिन्न है। आहाहा! शरीर, वाणी, एक ओर रखो, परन्तु दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा के भाव, वे भाव भिन्न हैं; इसलिए वस्तु भिन्न है; इसलिए उनके प्रदेश भिन्न हैं। आहाहा! प्रदेश तो असंख्य प्रदेश में के ही हैं, परन्तु वे भिन्न हैं, यह भिन्न है। सूक्ष्म बात है। आहा! बहुत सूक्ष्म बात है। आहाहा!

क्योंकि दोनों के प्रदेश भिन्न हैं, इसलिए उनमें एक सत्ता की अनुपपत्ति है.. आहाहा! भगवान आत्मा की सत्ता और आस्रव की सत्ता, दोनों भिन्न होने से दोनों की एक सत्ता की अनुपपत्ति है। (अर्थात्) दोनों की एक सत्ता नहीं है। दोनों की दो सत्ता है। आहाहा! दो-तीन लाईन में तो (कितना भर दिया है)! उनमें एक सत्ता की अनुपपत्ति है..

आस्रवभाव, मलिनभाव, अशुचिभाव। भगवान् निर्मल और शुचि-पवित्र भाव है। दो की सत्ता भिन्न-भिन्न है। आहाहा! दो का अस्तित्व भिन्न-भिन्न है। आहाहा!

जैसे शरीर और कर्म से आत्मा भिन्न है, और आत्मा से वे भिन्न चीजें हैं। वे तो पृथक् प्रदेश हैं। यह शरीर, वाणी, कर्म के पृथक् प्रदेश हैं और आस्रव के पृथक् प्रदेश नहीं, उस में के प्रदेश का अन्तिम अंश, वह इसका प्रदेश है। यह शरीर, वाणी, मन के प्रदेश भिन्न हैं, पृथक् प्रदेश हैं। आत्मा के पृथक् और इसके पृथक्। इसमें (-आस्रव में) पृथक् हैं सही, परन्तु वे असंख्य में के पृथक् हैं। दूसरे पृथक् प्रदेश हैं, ऐसा नहीं है। क्या कहा?

असंख्य प्रदेश हैं, उनमें से, जितने अंश में जितने क्षेत्र में से आस्रव होता है, उसके प्रदेश भिन्न गिने हैं, उसके प्रदेश भिन्न गिनने में आये हैं। बहुत सूक्ष्म! असंख्य प्रदेश में से उसके प्रदेश भिन्न गिनने में आये हैं। हैं तो असंख्य (प्रदेश), परन्तु जितने क्षेत्र में से आस्रव उत्पन्न हो, वह क्षेत्र भिन्न, उसके प्रदेश भिन्न। जिसमें आत्मा निर्मलानन्द पड़ा है, उसके प्रदेश भिन्न, वह निर्मल क्षेत्र है।

मुमुक्षु : दृष्टान्त देकर समझाओ।

पूज्य गुरुदेवश्री : दृष्टान्त! यह तो सादी भाषा है, यह तो सादी भाषा है। जहाँ आत्मा की पर्याय में आस्रव जो है, वे अशुचि और मलिन हैं। इसलिए वे आत्मा की चीज से भिन्न हैं-एक बात। और भिन्न हैं, इसलिए उनके प्रदेश भी भिन्न हैं। कोई भी चीज, यह घास उगे, जमीन है उसमें पत्थर ऐसा ऊँचा हो। उसमें अन्तिम भाग में घास उगे। तो वह घास जितने में उगती है, उतने प्रदेश भिन्न हैं और इसके अतिरिक्त पूरा पत्थर बड़ा भिन्न है।

मुमुक्षु : आत्मा के पूरे प्रदेश में आस्रवतत्त्व नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : असंख्य प्रदेश में से... असंख्य प्रदेश में से जितने अंश में से पुण्य-पाप आस्रव उत्पन्न होता है, वे प्रदेश और इन प्रदेश के-निर्मल के प्रदेश से भिन्न गिनने में आये हैं। सूक्ष्म बात है, भाई!

मुमुक्षु : एक-एक प्रदेश में भिन्न है?

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रत्येक प्रदेश-प्रदेश में भिन्न है। असंख्य प्रदेश से भिन्न है, इसलिए वह तो प्रत्येक प्रदेश से भिन्न ही है। असंख्य प्रदेश में अन्तिम अंश में आस्रव होता

है और यह असंख्य प्रदेश में पूरा आत्मा है अर्थात् कोई प्रदेश आत्मा का-ध्रुव का जो है, वह आस्रवों का नहीं है। आस्रव का प्रदेश है, वह इसका (आत्मा का) नहीं है। आहा!

मुमुक्षु : आप ऐसा कहना चाहते हो कि ऊपर का भाग और अन्दर का भाग ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह है तो वह की वह चीज़, परन्तु जरा ऊपर अन्तिम स्थिति और ऐसे अन्दर..

मुमुक्षु : आत्मा में से निकल जाता है इसलिए....

पूज्य गुरुदेवश्री : निकल जाता है, इसलिए अथवा प्रदेश तो कहीं निकलते नहीं। भाव निकल जाता है। इसलिए नहीं कहा। ख्याल में है। आस्रव का भाव निकल जाता है परन्तु कहीं वे प्रदेश निकल नहीं जाते परन्तु जहाँ तक आस्रव है, वहाँ तक के प्रदेश भिन्न हैं, ऐसा कहने में आता है। आहाहा!

(यहाँ कहते हैं) उनमें एक सत्ता की अनुपपत्ति है.. आस्रव जो दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का भाव है, वह आस्रव है और वह जितने अंश में से उत्पन्न हो, उसका क्षेत्र भिन्न है। इसलिए आत्मसत्ता और आस्रव की सत्ता दोनों एक नहीं है। दोनों की सत्ता दो अलग-अलग है। दो का अस्तित्व दो रूप है। आस्रव का अस्तित्व आत्मा से नहीं और आत्मा का अस्तित्व आस्रव से नहीं। आहाहा! ऐसा है।

मुमुक्षु : दो के बीच अतद्भाव है या अत्यन्त अभाव है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ तो अत्यन्त अभाव है। विकार है न! अत्यन्त अभाव है। आहाहा! विकार को अत्यन्त अभाव कहा न! कठिन बात है, भाई यह सब। संवर अधिकार कठोर है। आहाहा!

मुमुक्षु : आत्मा में से निकल जाते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : निकल जाते हैं, तथापि प्रदेश तो इसके रहते हैं। अवस्था निकल जाये परन्तु जो प्रदेश निर्मल हैं और वे रहें। यहाँ तो जब तक आस्रव है और आत्मा है, तब तक की बात है। जब तक भगवान यहाँ है और आस्रव है, वह वस्तु भिन्न है; अतः भिन्न है तो प्रदेश भिन्न है। पश्चात् आस्रव निकल गये, फिर वे इसके प्रदेश थे, वे सब निर्मल हो गये। अरे.. अरे! बातें गजब!

मुमुक्षु : बड़ी कठिन पड़ती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, कठिन पड़े; इसलिए धीरे-धीरे लेते हैं।

यह भाव आता है, उस प्रकार से पकड़ो। जो आस्रवभाव है, वह आत्मवस्तु से उसे दूसरी वस्तु ही कहा गया है। पर्याय को भी वस्तु कहने में आयी है। अन्य वस्तु (कहने में आयी है)। त्रिकाल की अपेक्षा से पर्याय को अन्य वस्तु कहा है। यों तो निर्मल पर्याय (भी)। आहा! चिद्विलास में बहुत अधिकार है। निर्मल पर्याय अन्य वस्तु है। आहाहा! त्रिकाली की अपेक्षा से एक समय की अवस्था, वह भिन्न है। तथापि वह पर्याय निर्मल है अन्दर और वस्तु भी निर्मल है। इसमें (चलते विषय में) अन्तर है। जितने में भगवान शुद्ध चैतन्य है, वे सब निर्मल प्रदेश हैं और जो प्रदेश के अंश में पुण्य-पाप, मिथ्यात्व आदि उत्पन्न हुआ, वह वस्तु भिन्न और वे प्रदेश भिन्न। जो प्रदेश भिन्न तो ऐसा कोई कहे कि आस्रव जाने के बाद वे प्रदेश कहाँ गये? आस्रव जाने के बाद प्रदेश निर्मल हो गये। फिर वह अन्य वस्तु नहीं रही। आहाहा! समझ में आया? आस्रव है, तब तक अन्य वस्तु के प्रदेश भिन्न हैं। आस्रव का नाश हुआ, तब फिर वे आस्रव के जो प्रदेश थे, वे तो अभिन्न हो गये, निर्मल हो गये। फिर वे प्रदेश आस्रव के थे, इसलिए भिन्न रह गये, निर्मल, परन्तु ऐसा नहीं है। ऐई!

मुमुक्षु : अगम-निगम की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अगम-निगम की बात है। आहाहा!

(अर्थात् दोनों की सत्ताएँ भिन्न भिन्न हैं); और इस प्रकार जबकि एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है,.. आहाहा! अब तीसरा बोल आया। तब उनमें परस्पर आधाराधेय -सम्बन्ध भी है ही नहीं। आहाहा! आत्मा के आधार से कर्म रहते हैं और कर्म के आधार से आत्मा, (ऐसा) तो नहीं। यह शरीर, आत्मा के आधार से रहता है, (ऐसा नहीं) यह जीवित शरीर है, तब तक ऐसे रहता है, लो! जीव निकल जाने के बाद?

मुमुक्षु : गिर जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : गिर जाये!

यहाँ कहते हैं कि जीव के आधार से यह सिर रहा नहीं है। आहाहा! किसी के

आधार से कोई द्रव्य नहीं रहता। यहाँ तो आस्रव के आधार से आत्मा नहीं है, (ऐसा कहते हैं)। आहाहा! सूक्ष्म बात है (कलश) *टीकाकार ने इसीलिए यह ॐ नमः कहकर टीका शुरु की है। अन्यत्र ॐ नमः नहीं लिखा। ॐ नमः नहीं लिखा। मैंने कहीं रखा है, हाँ! है? यह नहीं, वह। नहीं। उसमें है। संवर अर्थात् मोक्ष का मार्ग, आत्मा की निर्मल परिणति। उसका मांगलिक करते हुए पहले ॐ नमः किया। आहाहा!

पहली यह बात हुई कि एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है। आ गया? फिर एक वस्तु के (और) दूसरी वस्तु के प्रदेश भिन्न हैं, ऐसा कहा। इसलिए दोनों की सत्ता एक नहीं है, ऐसा कहा। अब कहते हैं कि एक दूसरे को आधार-आधेय भी नहीं है। आधार-आधेय सम्बन्ध भी नहीं है, ऐसा है न? **आधाराधेयसम्बन्ध भी है ही नहीं।** ये तो दो कहे, अब यह तीसरा कहना है। आहाहा! शरीर के आधार से आत्मा और आत्मा के आधार से शरीर। (ऐसा नहीं है।) आत्मा जब निकलकर स्वर्ग में जाये, तब कर्म के आधार से आत्मा वहाँ जाता है और आत्मा के आधार से कर्म जाता है - ऐसा नहीं। सबका कारण सब। आहाहा! स्वर्ग में जाये, तब कर्म तो साथ में है न? परन्तु उस कर्म के आधार से आत्मा चलता है और आत्मा गति करता है, इसलिए आत्मा के आधार से कर्म साथ आता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी चीज़ है। आचार्यों ने गजब काम किया है! सादी भाषा में....

एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं होने से, ऐसा। एक के साथ दूसरे को, एक के साथ अर्थात् दूसरे के साथ दूसरे को आधार-आधेयसम्बन्ध भी है ही नहीं। **इसलिए (प्रत्येक वस्तु का) अपने स्वरूप में प्रतिष्ठारूप (दृढ़तापूर्वक रहनेरूप) ही आधाराधेय-सम्बन्ध है।** आहाहा! इसलिए अपने स्वरूप में प्रतिष्ठारूप आधार-आधेयसम्बन्ध है अर्थात् आत्मा की निर्मल परिणति, वह आधार है और भगवान, वह आधेय है। उससे ज्ञात होता है, इसलिए वह आधेय है। आहाहा! आस्रव आधेय है और आत्मा उसे आधार है, ऐसा नहीं है। वे शोर मचाते हैं न कि व्यवहार से निश्चय होता है। (उनकी यह) झूठ बात है। राग-पुण्य-पाप का, दया, दान का, आस्रव, वह वस्तु ही भिन्न है, उसके प्रदेश भिन्न हैं, उसकी सत्ता भिन्न है। आहाहा! ऐसा मार्ग है। अब चौथा।

अपने स्वरूप में प्रतिष्ठारूप (दृढ़तापूर्वक रहनेरूप) ही आधाराधेयसम्बन्ध

है। आहाहा! यह क्या कहते हैं? भगवान आत्मा निर्मल शुद्ध चैतन्य की शुद्ध परिणति को आधार-आधेय है। (शुद्धपरिणति) आधार है, उसे आत्मा आधेय है। दूसरे के आधार-आधेय के साथ सम्बन्ध कुछ नहीं है। जिसकी शुद्धपरिणति से ज्ञात हो, इसलिए उसे आधार कहा और आत्मा को आधेय कहा। ऐसा है।

इसलिए (प्रत्येक वस्तु का) अपने स्वरूप में प्रतिष्ठारूप (दृढ़तापूर्वक रहनेरूप) ही आधाराधेयसम्बन्ध है। अपने साथ आधार है। अर्थात्? निर्मल परिणति, वह आधार और आत्मा, वह आधेय, ऐसा सम्बन्ध है। समझ में आया? निर्मल मोक्ष का मार्ग, वह आधार; आत्मा, वह आधेय। संवर, वह आधार; आत्मा, आधेय, क्योंकि संवर से वह आत्मा ज्ञात होता है। निर्मल परिणति से वह आत्मा ज्ञात होता है; इसलिए संवर की सत्ता और इसकी सत्ता यहाँ एक गिन डाली और उसे आधार-आधेय सम्बन्ध गिना है। संवर आधार है, वस्तु आधेय है। विशेष कहेंगे....

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)